SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

21वीं शताब्दी के हिंदी उपन्यासों में समकालीन आर्थिक परिपेक्ष्य और उनके प्रभाव का अंकनः एक अंतर्दृष्टि

मो. साजिद हुसैन, Ph.D.
ग्राम–परसौनी तैयब, पोस्ट–गरहिया, थाना+जिला– शिवहर, बिहार, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
मो. साजिद हुसैन, Ph.D.
E-mail : readsajid@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 16/10/2024
Revised on : 16/12/2024
Accepted on : 26/12/2024
Overall Similarity : 01% on 17/12/2024

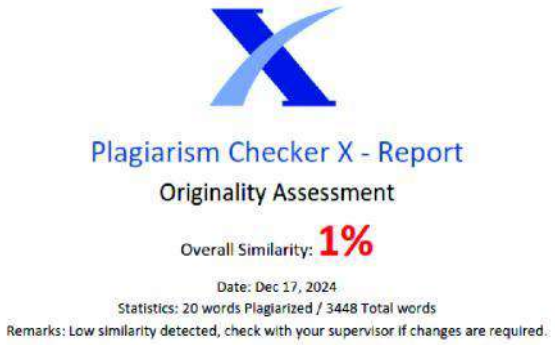

शोध सार

साहित्य अपने औपन्यासिक संरचना में समकालीन आर्थिक परिप्रेक्ष्य और उसकी सारी पेचीदगी को दर्ज करता आया है। 21वीं सदी का हिंदी उपन्यास भी अपने समकालीन आर्थिक स्थिति उसकी जटिलताएं एवं उसके प्रक्रम पर सूक्ष्मता से दृष्टिपात करता हुआ उसकी पड़ताल करता है। उसके मानवीय प्रभाव, उसकी प्रवृत्तियों को समग्रता से अंकित करता हुआ समकालीन उपन्यास उसके मानवीय मूल्यों पर प्रभाव को अंकित करता है। अर्थ के केंद्र में पूंजी और पूंजी के केंद्र में लाभ और लाभ के केंद्रीय स्थिति प्राप्त होने से इस तंत्र ने मानवीय जीवन, उसके सरकार और मूल्यों को किन–किन रूपों में प्रभावित किया है, 21वीं सदी का हिंदी उपन्यास उसे व्यापकता, तत्परता से प्रकट करता है।

मुख्य शब्द

भूमंडलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, यांत्रिकता, साम्राज्यवाद, उपन्यास.

प्रस्तावना

21वीं शताब्दी भूमंडलीकरण का उत्तर युग है। सूचना और प्रौद्योगिकी के असीम विस्तार ने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया को तीव्रगामी, सहज और सरल बना दिया है जिसके परिणाम स्वरूप समूचा ग्लोब एकीकृत हो चुका है। एक तीव्र विस्फोट की तरह इस व्यवस्था ने आर्थिक तंत्र का एक मजबूत संजाल वैश्विक स्तर पर विस्तृत किया है। इस व्यवस्था ने आर्थिक तंत्र को विकास की एक मजबूत कड़ी के रूप में स्थापित किया है। यह माना गया कि मानव जाति और उससे संबंधित सभी आयामों के विकास के लिए आर्थिक तंत्र की धूरी एक प्रभावी भूमिका निभाती है। इस आर्थिक तंत्र ने पूंजी की उपलब्धता बढ़ाई है जिसने

नवीनतम प्रौद्योगिकी के विकास को तीव्रता दी है और अनकों वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए बाजार सुलभ कराया है। इन सब के परिणाम में रोजगार के अवसर, बेहतर जीवन पद्धति, उत्पादकता में वृद्धि, निरंतर समृद्धि और बेहतरी की संकल्पना के साथ उत्तरोत्तर विकसित होती मानवीय समाज की परिकल्पना को फलीभूत करने का उद्देश्य सम्मिलित है। लेकिन क्या यह समुचित जमीनी हकीकत का हिस्सा है?

21वीं सदी के इस आर्थिक तंत्र ने अपने प्रौद्योगिकीय विकास के जरिए मानवीय जीवन को बेहतर, कुशल और सक्षम बनाया है तो दूसरी ओर उसके मूल में पूंजीवादी तंत्र ने एक जटिल संरचना को भी जन्म दिया है जो मानवीयता के उन मूल्यों को विघटित कर रहा है जो सामाजिक स्तर पर बेहद जरूरी माने जाते हैं। आर्थिक तंत्र का यह ढांचा लगातार अपने पूंजीवादी चक्र द्वारा उन सामाजिक संरचनाओं को प्रभावित कर रहा है जो सामाजिकता की नींव है। चुकि पूंजीवाद का जोर अपने लाभ और हानि के गणित पर टिका रहता है अतः उसके लिए सबसे जरूरी अपने लाभ की स्थिति को हर हाल में बनाए रखना होता है और इसीलिए वह इसके अन्य पक्षों को उतनी व्यापकता के साथ नहीं देखता। उसका सीधा सा गणित है उसके लिए जो लाभप्रद है, वही वरण योग्य है अन्यथा सब कुछ त्याज्य है। उसकी समुचित दृष्टि और उद्देश्य उसका लाभ है। मानवीय हित अथवा मानवीय मूल्य उसके लिए ना तो आवश्यक है और ना विचारणीय। उसके लिए उत्पादन और वितरण, मांग और आपूर्ति, क्रय और विक्रय, लाभ तथा हानि ही विचारणीय है और आवश्यक भी। यही वजह है कि अपनी सारी उत्पादकता और मानवीय हित की अवधारणा के बावजूद उसका सबसे सबल पक्ष ही उसकी नकारात्मकता को गढ़ता है। अपनी उपभोक्तावादी और बाजारवादी दृष्टिकोण की वजह से वह एकमुखी विकास को जन्म देता है और वह है मात्र पूंजी का विकास। इस क्रम में वह मानवता विरोधी या जनतांत्रिक मूल्यों अथवा सामाजिक संरचनाओं की परवाह नहीं करता है। यही वजह है कि शोषण के तमाम चक्र अपने रूप बदलकर आज भी विद्यमान है। भ्रष्टाचार अब प्रौद्योगिकीय विकास के साथ दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। वर्ग आधारित असमानता बढ़ती जा रही है। नैतिकता और संवेदनशीलता आधारित मूल्यों का विघटन होता जा रहा है। अर्थ आधारित संबंधों का विकास हो रहा है। रोजगार के तमाम दावों के बावजूद बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। उसकी दशा में कोई खास परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है। जीवन की बेहतरी के नाम पर भौतिकता और बाजारवादी तंत्र विकसित होता जा रहा है। प्रौद्योगिकी विकास ने भले ही सुविधाओं की लंबी फेहरिस्त दी हो लेकिन उसका लाभ सीमित लोगों तक ही उपलब्ध हो सका है। उपभोक्तावाद की नई प्रवृत्ति के रूप में विकसित होती गई नई जीवन पद्धति व्यक्ति को न केवल असंवेदन बल्कि अनैतिक और अराजकता की तरफ भी उन्मुख करता है। जनता के हित के नाम पर बड़ी–बड़ी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय कंपनियों के लाभ–हानि का खेल बदस्तूर जारी है। इस क्रम में मानवीय हितों का पलायन और सांस्कृतिक हस्तक्षेप जारी है। आर्थिक विकास की इस मॉडल ने अब तक भूखभरी की समस्या को भले ही कम करने में सफल रहा हो लेकिन उसे समाप्त करने में सफलता प्राप्त नहीं किया है। उत्पादकता ने सृर्जनात्मकता को क्षीण किया है।

संबंधों का पण्यीकरण

21वीं सदी के आर्थिक तंत्र ने दैनिक भौतिक जरूरतों को निजी जरूरतों और सामाजिक स्टेटस तथा व्यक्तिगत पहचान से जोड़ दिया गया है जिससे भौतिकता और उपभोग जैसी स्थिति निरंतर बनी रहती है। यही नहीं इन वजहों से भौतिकता को संबंधों और रिश्तो से भी ऊपर माना जाने लगा है। इस संदर्भ में एक ऐसे संबंधों का उदय हुआ है जो मात्र आभासी दुनिया तक ही सीमित है। वही वास्तविक संबंध अब धुंधले होने के कगार पर आ गए हैं। 'दस बरस के भंवर' में रविंद्र वर्मा संबंधों की जटिलता में अर्थ के नए रूप के जुड़ने से आए परिवर्तन को आज की जीवनशैली के माध्यम से बखूबी प्रकट करते है। रिटायर्ड पिता 'बांके बिहारी' संबंधों में अर्थ आधारित विरूपता स्पष्ट देखते हैं। अपने ही सहोदर भाई जैसे आत्मीय संबंध और स्नेह भी अर्थ के प्रभाव में अपनी उष्णता और स्नेह खो देते है। चित्रा मुद्गल की'गिलिगडु' के जसवंत बाबू अपने सुपुत्र के घर भी 'वस्तु' की तरह ट्रीट किए जाते हैं। पुत्र के लिए पिता एक रद्दी सामान के रूप में ट्रीट करते हुए उसे घर के एक कोने में रख दिया जाता है जिसका कोई भौतिक मुल्य नहीं है इसीलिए मुल्यहीन है, वहीं दूसरी ओर उनकी भौतिक संपत्ति पुत्र की नजर में मूल्यवान है। यही वजह है कि अपने पिता की आमद, उनकी मौजूदगी उसके लिए सुखद नहीं है बल्कि उनका लॉकर, उनकी

हवेलियां तथा अन्य असबाब उसके लिए महत्वपूर्ण है। उसके लिए परिवार की संपत्ति अर्थ रखती है। आपसी पिता–पुत्र संबंध, आपसी अपनापन और प्रेम, उससे जुड़ाव के मायने बदल गए हैं। 'बाबू जसवंत सिंह' के लिए परिवार के बाहर वृद्धाश्रम की तलाश आपसी रिश्तो की कमोडिटी में बदलते जाने का सबसे बड़ा प्रमाण है। अपने ही पिता के लिए, उनकी तथाकथित प्रसन्नता के लिए संतान ने "पता लगाया है कि नोएडा में सेक्टर 55 में कोई आनंद निकेतन वृद्धाआश्रम है, क्यों न उनके रहने की व्यवस्था वहीं कर दी जाए। हमउम्रो में मन लगा रहेगा"।[1] पुत्र और पुत्री तीनों एक पिता की अवहेलना लगातार करते हैं। उनकी संवेदनाओं और उनकी भावनाओं और उनके स्नेह का मूल्य उनके लिए नगण्य है। एक पुत्र अपने पिता पर इसलिए हाथ उठाता है क्योंकि वह उनसे फ्लैट बेचने से मना कर देते हैं। वह उसे लहुलुहान कर देता है। "कर्नल स्वामी पहले ही राज नगर स्थित गाजियाबाद वाले कीमती प्लॉट को बेचकर फ्लैट खरीदने में मदद कर चुके थे। श्री नारायण का प्रस्ताव उन्होंने ठुकरा दिया। क्रुद्ध श्री नारायण ने पिता पर हाथ उठा दिया"।[2]

महत्वाकांक्षा जनित संवेदनहीनता

अर्थ केंद्रीय मानसिकता ने ही संवेदनहीनता जन्य मूल्यों को जन्म दिया है जिसने व्यक्ति के मानस में महत्वाकांक्षाएँ और आर्थिक संपदा चाहे वह जिस भी तरीके से हो, शॉर्टकट हो तो और बेहतर, जैसी स्थिति द्वारा मुल्यहीनता को स्थापित करता जा रहा है। प्रदीप सौरभ मुन्नी मोबाइल में इस व्यूह को समझाते हैं जिसमें "मुन्नी की महत्वाकांक्षाएँ दिन–प्रतिदिन फैलते जा रहे थे। उसमें तरक्की करने की भूख इतनी प्रबल हो गई थी कि अब उसे सही गलत में अंतर भी नहीं समझ आता था। उसे जो चाहिए वह चाहिए उसके लिए रास्ता क्या हो, इस पर वह नहीं सोचती थी"।[3] यह वही भौतिकवादी लालसा है जिसकी पूर्ति में व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है। किसी भी कीमत पर बाजार जनित लालसाए पूरा करना ही श्रेष्ठता है जीवन की। ऐसे में आपसी रिश्तो की संवेदनशीलता का शून्य होते जाना लाजमी है।

निजी क्षेत्र की कंपनियां महत्वाकांक्षाओं को एक भूमंडलीकृत आर्थिक मॉडल के रूप में प्रसारित करती हैं जो अंततः संवेदनहीनता और विकट स्थिति को उत्पन्न करती है। इसी मॉडल को आदर्श मानकर कुकुरमुत्तों की तरह उग आए कॉल सेंटर ने पहले तो युवकों को नशे, क्लब और पबों की आदत डलवाई जिसने भौतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया जिसने उन्हें ईएमआई लेकर जिंदगी जीने की कला में निष्णात बनाया। उसके आदी लोग एकाएक नौकरी के संकट में आ फंसने से कईयों को ईएमआई और अन्य दूसरी चीजों की भरपाई भारी पड़ने लगती है। कर्ज में फंसे युवा नशा और भटकाव का शिकार होने लगे हैं। 'मुन्नी मोबाइल में' आनंद भारती की भांजी भी ऐसे ही संकट का शिकार होती है। वह अपनी ईएमआई भरने के लिए पैसे की व्यवस्था करने के लिए अपने मामा के पास आती है और बताती है "मामा हम पर काफी कर्ज हो गया है। मकान, गाड़ी और दूसरी चीजों की ईएमआई हमारे ऊपर भारी पड़ रही है। मुझे नौकरी से हटाने का नोटिस भी मिल चुका है"।[4] इस भौतिकतावादी महत्वाकांक्षाओं ने युवाओं में 'शिजोफ्रेनीया' की स्थिति पैदा कर दी है। 'रतन' इसी का शिकार होता है। नौकरी छूटने के बाद 'रतन' शराब पीने लगता है, अपने मां की सोने की अंगूठी बेच देता है। उसे ठीक से नींद नहीं आती। डॉक्टर से मिलने पर रतन का हाल सुनकर डॉक्टर ने उसे शिजोफ्रेनीया की ही शिकायत की। इस समय की वास्तविकता को वह स्पष्ट करते है कि "यह ऐसा समय था जिसमें देश की एक तिहाई लोग भूखे थे और एक चौथाई पिज्जा खा रहे थे। बाकी प्रदर्शन की खिड़की से आंख गड़ा कर खड़े थे। जिस समय में हम रह रहे हैं उसमें उत्पन्न दशा शिजोफ्रेनिया के अंदेशा को और भी ज्यादा है"।[5]

भावनात्मक दूरियाँ, यांत्रिकता और अकेलापन

21वीं सदी में आर्थिक तंत्र के नए संजाल ने जिस रूप में बाजरवाद की व्यापकता को बढ़ाया उसने बड़े पैमाने पर भावनात्मक विलगाव की स्थिति पैदा की। भावनात्मक लगाव और संबंध विच्छेद हो रहे हैं। जिस जीवन शैली ने अपने पांव पसारे हैं उसका परिणाम अंततः ऐसी भावनात्मक शून्यता की तरफ ही ले जाता है। 'मुन्नी मोबाइल' में आनंद भारतीय देखते हैं कि "पाँच फुटी उस लड़की के बाल बरगंडी और लटे गोल्ड है। दुबली होने के लिए

कान के पास आईपॉड नैनो लगाकर छत पर ब्रिस्क वॉक करती है। आईपॉड से कान खाली होते ही मोबाइल उसकी जगह ले लेता है। जंक फूड पर पली है। दाल से वास्ता पड़ा होगा तो बचपन में ही"।[6] यानी हम सुविधाओं के यांत्रिक जीवन में प्रवेश कर रहे हैं जहां हम यंत्रों द्वारा परिचालित है और यंत्रों की खूबी यही है कि वे भाव शून्य होते हैं। यांत्रिकता का घेरा जितनी तेजी से 21वीं सदी में बढ़ता जा रहा है मनुष्य उतनी ही तेजी से भाव शून्य होता जा रहा है। इससे उपजे यांत्रिकता और भावशून्यता ने अकेलेपन अथवा भटकाव की स्थिति उत्पन्न की है। इस भावनात्मक शून्यता को वस्तुओं से भरने की अर्थहीन कोशिश यांत्रिकता को और बढ़ावा देती है जिससे भटकाव की स्थिति और बढ़ रही है। बाजार की चमक–दमक उनकी लालसा को और बढ़ाता है जिसका खामियाजा युवाओं को चुकाना पड़ता है। कॉल सेंटर, क्रेडिट कार्ड और मैक्डोनाल्डीकरण की प्रक्रिया ने जिस बाजार और भौतिकवादी मानसिकता को बढ़ाया उसने वैभव शाली जीवन का भ्रम रचा। इस भ्रम की चमक जितनी तेज है वह उतनी ही जल्दी उतर भी जाती है।

'सही नाप के जूते' अब मुश्किल से मिलते हैं। 'लता शर्मा' जिस खोखली और पेज–थ्री की जिंदगी की चमक और उसके अवसान को व्यक्त करती है, वहाँ भी यही भौतिकता और व्यक्ति का पण्यीकरण है। उसका भाई अपनी बाजारवादी लालसाओं को पूरा करने के लिए अपनी बहन का भी सौदा कर लेता है। सारी सुख–सुविधाओं के बावजूद अपने समय की सबसे प्रसिद्ध सिने–तारिका को अकेलेपैन की मौत नसीब होती है। जहां उसका कोई नाम लेवा भी नहीं रहता है। दरअसल जिस बनावटीपन और यांत्रिकता को हम अपनी जरूरत मानकर अपना रहे हैं वह दरअसल बाजार का भ्रम है जो भावनात्मक शून्यता को ही बढ़ावा देता है।

यांत्रिकता और उससे उपजी भावशून्यता की क्या दशा हो सकती है उसे संजीव अपने उपन्यास 'रह गई दिशाएं इसी पार' में पूरी यथार्थता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रचते हैं। यांत्रिकता को गोद में लिए प्रौद्योगिकी विकास ने जिस प्रेम, सेक्स, अजरता और अमरता की नई व्याख्या की है और भौतिकता को अर्थवान मानता है और अपने भौतिक लालसाओं को पूरी करने के लिए समय और पूंजी को खर्च करता है, वह अंततः अर्थहीन सिद्ध होता है। कारण कि उसका पूरा जोर उसकी भौतिक लालसा है, मानवता को बचा लेने का भावनात्मक लगाव नहीं।

अर्थ आधारित विभाजन

समाज की संरचना में चली आ रही जातिगत विभाजन से इतर आर्थिक संपन्नता–विपन्नता के आधार पर भी एक अदृश्य विभाजन देखने को मिलता है जो कि अपनी जीवन–शैली, आय, भौतिक सुख सुविधाओं तक पहुंच और उसके उपयोग करने की क्षमता या कहा जाए कि 'परचेजिंग पावर' से निर्धारित किया जाता है। आर्थिक आधार पर इन सूचकांकों के अनुसरण में समाज का विभाजन मुख्यतः तीन रूपों में किया जाता है। उच्च–वर्ग, मध्य–वर्ग और निम्न–वर्ग। निम्न वर्ग समाज में आर्थिक स्तर पर वह समूह आता है जिसे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयासरत रहना पड़ता है। श्रम इनके जीविकोपार्जन का सबसे बड़ा माध्यम है और ज्यादा तर असंगठित क्षेत्रों में अपना रोजगार पाते हैं। उत्पादन का सबसे निचले क्रम में होने के कारण अलग–अलग शोषण का शिकार होना पड़ता है। भूख, गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी जैसी अन्य समस्याएँ इन्हें बुरी तरह प्रभावित करती हैं।"भूमंडलीकरण प्रदत्त विकास के रूप में नए ढांचे (मॉडल) ने जिस आर्थिक समृद्धि को संभव किया है, समाज के पिछड़े वर्ग तथा ग्रामीण क्षेत्र उससे कंगाली करण की ओर जाने के लिए अभिशप्त हैं"।[7] यानी आर्थिक रूप से विपन्नता की स्थिति अब भी बदस्तूर जारी है और पिछड़े वर्ग यानी निम्न वर्ग तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जो कि समान्यतः कृषक मजदूर क्षेत्र हैं कि स्थिति अब भी बदतर है। स्थिति बेहतर बनाने की बात की जा रही रही है लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति में कुछ परिवर्तन देखने को नहीं मिलता। समकालीन हिन्दी उपन्यास इस वर्ग विभेद तथा शोषण के नए आयामों को सूक्ष्मता से चित्रित करता है। कुइयांजान मे 'नासिरा शर्मा' इस बेबसी को चित्रित करती है: "दो औरतों ने ईंटों से चूल्हा बनाया, जमा की लकड़ी से आग लगाई। तीन–चार ने मिलकर नमक डालकर आटा गूंथा और मोटी–मोटी रोटी तवे पर डालने लगी। चाय का पानी खौल गया था जिसमें शक्कर, दूध और चाय की पत्ती डाल दी गई थी। अब समस्या बर्तन और ग्लास की थी"।[8] यह बेबसी और दयनीयता तब तक और बढ़ जाती है जब अपनी आर्थिक स्थिति बेहतर करने के उद्देश्य से पलायन की स्थिति को बेहतर माना जाता है। महानगरों को लालसा भरी नजरों

से देखने के बाद अपनी स्थिति को बेहतर करने के लिए उन्हें वहाँ और भी मशक्कत करनी पड़ती है लेकिन वहां भी 'बरत्तन' और 'ग्लास' की समस्या लगातार बनी रहती है। पति–पत्नी दोनों मजदूरी करते हुए भी अपनी दयनीयता से उभर नहीं पाते। कुछ ना कुछ छूट जाता है। 'कथांतर' उपन्यास में 'उषा यादव' इसी बेचारगी को लिखती हैं "जिस बच्चे की मां मुंह–अंधेरे काम पर जाकर देर रात घर लौटती हो, जिसकी मौसी चार घरों का चौका बासन करके थकी–हारी वापस आती हो और आते ही घर के लिए चार रोटियां थोपने में जुट जाती हैं, उसके नसीब में लोड़िया सुनकर सोने का सुख नहीं होता"।[9] उनका जीवन संघर्ष अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने में ही बीत जाती है। न तो अपने लिए समय बचता है और ना ही परिवार के लिए। यह दयनीय और दारुण स्थिति लगातार बनी हुई है, बल्कि बढ़ती ही जाती है।

प्रायोजित साम्राज्यवाद

इस आर्थिक ढांचे में बहुराष्ट्रीय कंपनियां दरअसल एक उपक्रम है, उस प्रायोजित साम्राज्यवाद का जिसे पूंजीवादी शीर्ष वाले विकसित देश अपने फायदे के लिए संचालित करते हैं। अपने उत्पादन और लाभ के क्रम में आम जनता शोषण का शिकार होती है। रणेन्द्र की 'ग्लोबल गांव के देवता' इस उपक्रम की पोल खोलता है। वह उसके पीछे के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि "अमेरिकी महाद्वीप में यूरोपीय आबादी की बढ़ती लहर और सोने की खानों के लोभ में मूल निवासियों को बार–बार पीछे ठेलने के लिए विवश किया गया। साम्राज्यवादी शक्तियां येन–केन भूमि पर कब्जा जमाने की नियुक्ति पर निरंतर आगे बढ़ रही थी"।[10] ठीक ऐसे ही ये कंपनियां आज खनन क्षेत्र के आदिवासियों की जमीन को हथियाकर उन्हें बेघर करना चाह रही है। इस प्रक्रिया में उनका प्रत्यक्ष उद्देश्य जनसेवा द्वारा सरकार के मानदंडों के भीतर संसाधनों का उपयोग करना होता है लेकिन वे इसकी आड़ में राजनीति और प्रशासन के अपराधीकरण की मिलीभगत का शिकार हो रही है। वह मिलकर संसाधनों वाले क्षेत्रों में वहां के स्थानीय लोगों को विस्थापित करने से भी गुरेज नहीं करते। वो उन्हे किसी भी तरह वहां से हटाकर, खदान हथियाकर अपनी पूंजी को बढ़ाना चाहते हैं। उन्हें इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि उनके वहां की स्थानीय जनता के जीवन, परिवार, समाज अथवा संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ता है। रोजगार के अवसर सृजन करने के बहाने उनका आर्थिक और शारीरिक शोषण करने से भी नहीं चूकते। मजदूर जनता इसमें पिसने को मजबूर है। "...एक तरफ इन खानों ने मजदूरी दी तो दूसरी तरफ बर्बादी के सरजाम भी खड़े किए। पिछले पच्चीस–तीस सालों में खान मालिकों ने जो बड़े–बड़े गड्ढे छोड़ें हैं, बरसात में उन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रम मलेरिया यहां के लिए महामारी है महामारी"।[11] यानी पूंजीवादी व्यवस्था के लिए गरीबी और भुखमरी में जीने को मजबूर यह लोग शोषण के कई स्तरों पर पिसते हैं। शोषण का यह रूप यही नहीं रुकता बल्कि मानसिक और शारीरिक यातना तक पहुचता है। रणेन्द्र लिखते हैं– "पाट के दो दर्जन से ज्यादा खदानों में मेठ–मुंशी सब बाहर वाले थे। किसी ने परिवार नहीं रखा था। सब को डेरा में काम करने के लिए असुर लड़कियां चाहिए थी। क्यों चाहिए थी यह बताने की जरूरत नहीं है"।[12]

इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने ऐसी दुनिया तैयार की है जहां बस पूंजी और बाजारवाद का खेल बदस्तूर जारी है। विकासशील देश उनके लिए मात्र बाजार भर है लेकिन इसे गरीबी मिटाने के नुस्खे की तरह देखा जाता है। अमीरी गरीबी के पाट को बराबर करने के लक्ष्य के साथ उपभोक्ता वर्ग तैयार किया जाता है। एक ऐसे मॉडल की बात की जाती है जो गरीबों की जिंदगी में कुछ सुधार कर सकता है। अलका सराबगी का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' इन कंपनियों के ऊपरी मंशा को खूब भली–भांति उजागर करता है। इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ऊपरी मंशा प्रकट करते हुए लिखती हैः "अच्छा बताइए क्या आप सचमुच सोचते हैं कि हमारे देश की तरक्की का मतलब यह होगा कि गरीबी रेखा से नीचे के 26 प्रतिशत यानी कि 30 करोड लोग। इतने सारे लोगों की जिंदगी कैसे बनेगी जो सड़क के कुत्तों की जिंदगी जी रहे हैं"।[13] यह कंपनियां गरीबी मिटाने के दावों के साथ पदार्पण करती हैं लेकिन उनका उद्देश्य मात्र और मात्र मुनाफा कमाना होता है। संसाधनों और बाजार पर आधिपत्य स्थापित कर ये बाजार हथियाना चाहते हैं। इससे छोटे दुकानदारों, व्यवसायिक, लघु उद्योगों को काफी नुकसान झेलना पड़ता है। इसी तरह भूमंडलीकृत गांव की स्थिति यह है कि कृषक निरंतर आत्महत्या कर रहे हैं।

निष्कर्ष

नए आर्थिक तंत्र और प्रौद्योगिकीय व्यवस्था में अर्थ मनुष्य के जीवन में केंद्रीय भूमिका में है। अर्थ आधरित व्यवस्था का समाज के केंद्र में आ जाना समाज के 'पण्यीकरण' की स्थिति को जन्म देता है। विज्ञापन, बाजार और उपभोक्तावाद के पूंजीवादी प्रक्रम ने व्यक्ति और समाज तथा उसके आपसी संबंधों का भी 'वस्तुकरण' किया। यानी आपसी भावनात्मक संबंध या जुड़ाव पर 'वस्तुवाद' हावी होने लगा। संबंधों की मधुरता अर्थ की मात्रा और वस्तु की स्थिति से तय होने लगी। बीसवीं सदी के आखिरी दशक में संयुक्त परिवार के विघटन का भी एक कारण रही बदलता आर्थिक तंत्र अब अपनी एकल परिवार की परिकल्पना में भी मिसफिट दिखाई देती है। बदलता हुआ आर्थिक स्वरूप अब पेज 3 की दुनिया और वर्ग विभाजन ने अपनी सीमा लाँघकर अपने सामाजिक स्टेटस को साबित करने की जिस सनक को बाजारवाद ने जन्म दिया और विज्ञापन ने जिसे मनुष्य के मस्तिष्क में छाप दिया, उसे अपना सपना बना, उस आभासी जीवन को जीने की आकांक्षा लिए मनुष्य का 'पण्य' में परिवर्तन होते जाना ज्यादा अचंभित नहीं करता। संयुक्त परिवार का विघटन, एकल परिवार की संरचना और फिर एकल परिवार की स्थिति में भी व्यक्तिगत स्तर पर अपने जीवन और आपसी संबंधों को बुनना आज उसी अर्थ आधारित संबंधों की स्थिति का परिणाम है जिसमें व्यक्ति को वस्तु से प्रतिस्थापित किया जा रहा है। व्यक्तिगत स्तर पर अपनी बाजरवादी इच्छाओं के पूरा ना हो पाने पर कुंठा, निराशा, अकेलापन, संबंध विच्छेद आदि जैसी स्थितियां पैदा हो रही है जिसे 21वीं सदी का हिंदी उपन्यास पूरी मुखरता से व्यक्त करता है।

सन्दर्भ सूची

1. मुद्गल, चित्रा (2004) *गिलीगडु,* सामायिक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 97।
2. मुद्गल, चित्रा, (2004) *गिलीगडु,* सामायिक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 137।
3. सौरभ, प्रदीप (2009) *मुन्नी मोबाइल,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 105।
4. सौरभ, प्रदीप (2009) *मुन्नी मोबाइल,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 107।
5. वर्मा, रवींद्र (2007) *दस बरस का भंवर,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 74।
6. सौरभ, प्रदीप (2009) *मुन्नी मोबाइल,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 110।
7. सिंह, पुष्पपाल (2012) *भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 37।
8. शर्मा, नासिरा (2005) *कुइयांजान,* सामायिक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 44।
9. यादव, उषा (2005) *कथान्तर,* किरण प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 127।
10. रणेंद्र (2010) *ग्लोबल गाँव के देवता,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 67।
11. रणेंद्र (2010) *ग्लोबल गाँव के देवता,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 66।
12. रणेंद्र (2010) *ग्लोबल गाँव के देवता,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 72।
13. सराबगी, अलका (2008) *एक ब्रेक के बाद,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 75।

****